अद्वैतवाद तथा उससे सम्बद्ध अन्य वादों की अवधारणाएँ

डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र

इतिहास गवाह है कि विश्व की चिन्तन परम्परा में अनेक मनीषियों, चिन्तकों, संतों, विचारकों, साहित्यकारों और दार्शनिकों आदि ने समय-समय पर अपनी विचारधाराओं से तत्कालीन व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की भावनाओं को झंकृत किया है। काल के प्रभाव में भी ऐसे समय आए हैं जबकि युगों को या संस्कृतियों को उनके जीवित वर्तमान ने झकझोरा है। इस संदर्भ में हमारी भारतीय चिन्तन-परम्परा काफी लम्बी रही है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति की बात करें तो हमारे यहाँ कभी कर्म की प्रधानता रही तो कभी ज्ञान और कभी भक्ति की। कालान्तर में इन तीनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया परन्तु काल-विशेष के अन्तर्गत किसी न किसी की प्रधानता विद्यमान रही। चित अचित और ब्रह्म में भी क्रमशः युग विशेष के अनुसार एक की प्रधानता रही है। जब कभी धर्म, दर्शन या साहित्य सम्बन्धी विचारों के अन्तर्गत अन्तर्विरोध एवं युगबोध का अभाव हुआ तत्पश्चात् नई विचारधाराओं ने जन्म लिया, जिसकी परम्परा अविरत चल रही है। बात भक्तिकाल से शुरू करते हैं। इस युग में जहाँ एक ओर भक्ति साहित्य में अलौकिक ईश्वर को लौकिक काव्य नायक का रूप देकर जीवन-संघर्षों से गुजारा गया ताकि वह अधिक से अधिक विश्वसनीयता या प्रामाणिकता पा सके, वहीं दूसरी ओर दार्शनिक विचारधाराओं में भक्ति, जीव, ब्रह्म, सगुण-निर्गुण जगत और माया आदि की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई। भारत में दार्शनिक विवेचन की परम्परा वैदिक वाङ्मय से शुरू होती है। यहाँ हम वेदों और उपनिषदों की लम्बी परम्परा में न जाकर अपनी बात सातवीं शताब्दी से शुरू करना चाहते हैं।

इस समय तक बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान या सहजयान में परिणत हो गया था, जिसमें भोग-साधना को प्रमुखता मिली। जैन एवं शैवधर्म में क्रमशः प्रेम और वामाचारों का प्रभाव बढ़ता गया। संस्कृत और लोक-भाषाओं में अन्तर बढ़ जाने के कारण तथा सामाजिक एवं नैतिक स्तर के पतन के कारण जन साधारण का भी आकर्षण भोग-विलास की ओर अधिक बढ़ रहा था। इस प्रकार जैन, बौद्ध और शैव धर्म में प्रेम और भोग प्रमुख हो गया और श्रद्धा गौण हो गई। श्रद्धा के अभाव में कोरा प्रेम व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य हो जाता है। ऐसे में भक्तिभाव की संकल्पना ही नष्ट हो जाती है। आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के योग को ही भक्ति कहा है।

नवीं शती के लगभग रचित श्रीमद् भागवत् पुराण में भी भक्ति में मात्र प्रेम रूप का ही चित्रण किया गया, इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में बढ़ते हुए प्रेम और हमारी वैदिक, औपनिषदिक एवं पौराणिक परम्परा के विरुद्ध उठ रहे आन्दोलनों के विरुद्ध दो महान विचारकों ने लोहा लिया; जिसमें एक थे कुमारिल भट्ट जिन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड की स्थापना की और दूसरे थे शंकराचार्य जिन्होंने अद्वैतवाद की। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के विषय में कुछ कहने के पूर्व अद्वैतवाद की अवधारणा को समझ लेना समीचीन होगा।

कोशगत अर्थ के अनुसार - अद्वैतवाद का अर्थ है– वेदान्तमत। वह सिद्धांत जिसके अनुसार यह संसार मिथ्या है तथा ब्रह्म से ही सकल विश्व की उत्पत्ति है। अद्वैत यानी, बेजोड़, अकेला, ब्रह्म, ईश्वरवाद, चैतन्य या ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु या तत्व की वास्तविक सत्ता न मानने का सिद्धान्त।

दर्शन में सत् (सत्ता) की खोज की जाती है। सत् को ही तत्व या पदार्थ कहते हैं। यह सत् है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह एक है या अनेक? आदि प्रश्नों पर पर्याप्त विचार किया गया है; जिसके फलस्वरूप अनेक वाद उत्पन्न हो गए हैं। जो सत् को एक मानते हैं, वे एकत्ववादी, जो अनेक मानते हैं वे अनेकत्ववादी और द्वैतवादी कहे जाते हैं। अद्वैतवादी इन सबसे भिन्न हैं। वे

सत् को एक-अनेक नहीं मानते बल्कि उसे अगम, अगोचर, अलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानते हैं। अद्वैत सत् क्या है? इस प्रश्न के भी विविध उत्तर हैं, जिनके कारण विविध तत्ववादों का जन्म हुआ। इसे शून्यवादी (बौद्ध) शून्य, विज्ञानवादी (बौद्ध) विज्ञान, शब्दवादी (वैयाकरण स्फोटवादी) शब्द, शक्तिवादी शक्ति, शिववादी शिव और अद्वैत वेदान्ती आत्मा मानते हैं।

शंकराचार्य ने (788-820) अल्पायु में ही वेदों, उपनिषदों तथा विविध दार्शनिक प्रणालियों के गहन अध्ययन के फलस्वरूप अपनी अद्भुत प्रतिभा से वैचारिक जगत में तहलका मचा दिया। चार मठों की स्थापना के बाद उन्होंने उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र के आधार पर भाष्य, सौन्दर्यलहरी और विवेक चूड़ामणि जैसे गम्भीर दार्शनिक काव्य तथा श्लोक लिखे। शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद पर आधारित एक नई आदर्शवादी प्रणाली को जन्म दिया, जो अद्वैत वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। शंकर ने पुरानी अवधारणाओं में संशोधन कर नये विचारों से मौलिक योगदान के द्वारा भारतीय आदर्शवादी दर्शन को समृद्ध बनाया। उदाः स्वरूप प्राचीन आर्यों ने न तो इस जगत् के यथार्थ से इन्कार किया और न ही वे इंद्रिय-सुख को बुरा मानते थे; और दीर्घ कालीन जीवन के लिए तथा लौकिक सुख के लिए प्रार्थना करते थे। किसी भी उपनिषद में इस जगत् के यथार्थ का निषेध नहीं किया गया है और न ही जीवन को भ्रम या माया मात्र कहा गया है। उपनिषदों में ऐसे कितने ही अंश हैं जो अग्नि, वायु आकाश को सत्य मानते हैं, यहाँ पर 'एकोहं द्वितीयोनास्ति' ब्रह्म की अवधारणा समाप्त हो जाती हैं।

शंकराचार्य ने पंचभूत को ब्रह्म का अंग मानकर पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार किया। ब्रह्म, जो सत्, चित् और आनंद से निर्मित हैं, एक मात्र और सर्वव्यापी यथार्थ है। विविध घटनाओं से पूर्ण यह जगत् केवल माया है। शंकराचार्य की शिक्षाओं का केन्द्रीय तत्व है–'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। शंकराचार्य ने पारमार्थिक सत्ता यानी ब्रह्म, प्रतिभासिक सत्ता और व्यावहारिकी ज्ञान, सत्ता के तीन रूप मानते हुए व्यक्तिगत मानव आत्मा (जीवात्मा) और सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) के द्वैत से आत्मा और पदार्थ के द्वैत से इन्कार किया है। इनके अनुसार ब्रह्म वह है जो समस्त तत्वों का कारण और अनादि है। वह अनंत, शुद्ध ज्ञान, सच्चे आनंद का दाता, आस्तित्वमय और एक मात्र सत्य है।

जगत के संबंध में उनका विचार है कि कर्ता और कर्म, आत्म और अनात्म गतिमयता और व्यावहारिक जीवन में एक दूसरे के इतने विरोधी हैं कि एक के बदले दूसरे का धोखा खा जाना असम्भव है। तो भी हम देखते हैं कि सर्वत्र यह गलती हो रही है और हम इस गलती की जड़ को नहीं पकड़ पाते। कारण कि सामान्य जवन में हम यह प्रारम्भिक किए बिना नहीं रह सकते। उदाहरण के लिए हम कहते हैं, मैं दुबला हूँ अथवा मैं अंधा हूँ तो हम आत्म और अनात्म अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मस्तिष्क को एक कर देते हैं। हम कर्ता से कर्म का धोखा खा जाते हैं। आत्मा को इस पार्थिव शरीर और मस्तिष्क से भ्रमवश एक मान लिया जाता है। अतः मैं, अथवा अहं वास्तविक आत्मा नहीं है। क्योंकि वह शरीर और इंद्रियों की सीमाओं से बाधित हैं, किन्तु यह शरीर पार्थिव वस्तु की भाँति केवल दृश्यमात्र है। यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है तो एक मात्र यथार्थ जो शेष रहता है, वह आत्मा है–वह और कुछ नहीं, परमब्रह्म है।"

शंकराचार्य चेतन और अचेतन वस्तुओं से पूर्ण इस जगत को केवल भ्रम या माया मानते है ब्रह्म नहीं। उदा० समुद्र की लहरों में फेन और बुलबुले पानी से भिन्न नहीं होते। तो भी वे एक ही चीज नहीं होते। यहाँ पानी हर जगह विद्यमान है।

इनकी मान्यता है कि ब्रह्म ही जीव और जगत् के रूप में दिखाई देता है। परम सत्य अर्थात् ब्रह्म और वैयक्तिक आत्मा एक ही हैं। फिर भी ये अलग-अलग क्यों प्रतीत होती है? शंकर ने इसका कारण माया और भ्रम माना है। अविद्या के कारण हम अद्वैत में द्वैत देखते हैं। उदा० स्वरूप, जादूगर स्वयं जादू का शिकार नहीं बनता। वह अपनी टोपी में एक सिक्का डालकर सौकडों सिक्के निकालता है। शंकराचार्य ने कहा कि जादूगर तीनों कालों में अपने इन्द्रजाल का शिकार नहीं होता। इसी प्रकार माया यद्यपि ब्रह्म का एक अभिन्न अंग होती है, तो भी ब्रह्म उससे प्रभावित नहीं होता।

जीव अथवा वैयक्तिक आत्मा भी स्वयं ब्रह्म ही है। अविधा को विद्या से दूर करने पर जीव और ब्रह्म के बीच

का द्वैत समाप्त हो जाएगा। जीव का कोई अलग अस्तित्व नहीं रहेगा और वह अपने यथार्थ स्वरूप में अर्थात् ब्रह्मरूप में ही दृष्टिगत होगा।

शंकराचार्य के मत का समाज के संदर्भ में उल्लेख करें तो उनके मातानुसार समाज में सभी मनुष्य को बराबर का दर्जा मिलना चाहिए बिना भेदभाव के। लेकिन वर्ण-व्यवस्था के पोषक शंकर ने कहा कि आत्मा-ब्रह्म के बीच अभिन्नता को उच्च कुल में उत्पन्न लोग ही समझ सकते हैं। शुद्धों के लिए उन्होंने इसका निषेध कर दिया। इस प्रकार वेदों और उपनिषदों का अध्ययन, मनन और चिन्तन केवल उच्च वर्ग तक सीमित हो गया। आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास वर्णव्यवस्था के पोषक बने। भेदभाव पूर्ण विचार के कारण इसका विरोध भी हुआ। आगे चलकर शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में चार वादों का जन्म हुआ, जिनमें पहला है विशिष्टाद्वैतवाद। कोशगत अर्थ के अनुसार एक प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त जिसमें जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी अभिन्न ही माने गए हैं।

द्वैत और अद्वैत के बीच का रामानुजाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं है। ब्रह्म जीवात्मा और जगत् तीनों मूलतः एक होते हुए भी कार्यरूप में भिन्न है। जीव और ब्रह्म में वही सम्बन्ध है जो किरण और सूर्य में। या यों कहिए कि ब्रह्म के दो रूप हैं, कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म। कारण ब्रह्म सूक्ष्म चित और अचित् से विशिष्ट है। कार्य ब्रह्म (जीवों सहित समस्त जगत्) स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट है। दोनों का, कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्म का एकमेव विशिष्टाद्वैत है।

इस मत के पहले आचार्य रंगनाथमुनि (824-924) हुए; जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्ति भावपूर्ण गीतों का संग्रह, मंदिरों में कीर्तन की व्यवस्था आदि महत्वपूर्ण कार्य किए। इनके उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य (1057-1137) हुए जिन्होंने 12वीं शती में विशिष्टाद्वैत दर्शन का महल खड़ा किया। इन्होंने वेदार्थ संग्रह, गीता की टीका और वेदान्त-सूत्र का श्री भाष्य, ये तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

रामानुज ने शंकर से भिन्न अद्वैतवाद की स्थापना की, जिसमें इन्होंने ब्रह्म, जीवात्मा और भौतिक जगत सभी को यथार्थ मानते हुए एक दूसरे से भिन्न माना। ब्रह्म जीवात्माओं की भी आत्मा और इस पार्थिव जगत की आत्मा है। इस प्रकार चित्, अचित् यद्यपि ब्रह्म से भिन्न है, तो भी उससे स्वतंत्र नहीं हैं। वे उसके द्वारा पोषित और नियंत्रित हैं। 'विशिष्टाद्वैत' का अर्थ है कि विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और जगत् उसके विशेषण। प्रो. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में–इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा विशेष्य कहलाता है, जो गौण होता है वह नियम्य होता है, उसे विशेषण कहते हैं। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेषण है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण हैं। उदा. काली गाय में हम गाय और काली के भेद को जानते हुए भी दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते। यही है रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद जिसमें ईश्वर का चित्-अचित् के साथ जो संबंध है वही विशेष्य-विशेषण का संबंध है।

जीवात्मा, परमात्मा का ही एक अंश है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है–ईश्वर अंश जीव-अविनाशी। इस जगत् की समस्त वस्तुओं में ईश्वर मौजूद है और अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर है। जैसे मकडी अपने भीतर से ही जाला पैदा करती है वैसे ही ईश्वर अपने अन्दर से ही इस जगत् की सृष्टि करता है। वह जगत् का निमित्त है। सृष्टि माया नहीं वास्तविक है।

रामानुज ने पदार्थों को तीन रूपों में विभक्त किया है। (1) चित्-भोक्ता जीव, (2) अचित्-भोग्य जगत्, (3) ईश्वर-सर्वान्तर्यामी।

चित् तत्व ही जीवात्मा है जो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से भिन्न है। इसके तीन रूप हैं। (1) बुद्ध जीव जो सांसारिक होते हैं, (2) मुक्त जीव- जो संसार में रहते हुए भी भक्ति, आराधना और कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले होते हैं। (3) नित्य-जीव–जो कभी संसार में न आया हो। आत्मा अचित् के संसर्ग से अविद्या, कर्म, वासना व रुचि को जन्म देती है।

अचित् तत्व ज्ञान शून्य है। इसके तीन प्रकार हैं–(1) शुद्ध सत्व, (2) मिश्र सत्व, (3) सत्व शून्य।

(1) शुद्ध सत्व में रजोगुण और तमोगुण नहीं होते, इसलिए यह नित्य हैं। मुक्तावस्था में जीव की देह इसी से बनती है।

(2) मिश्र तत्व में तीनों गुण मिले रहने के कारण जगत् का उपादान है। इसी को माया, प्रकृति या अविद्या कहा जाता है।

(3) सत्व शून्य तत्व काल है। काल के आधीन होकर ही ईश्वर भी जगत् की सृष्टि करता है। हालांकि चित् और अचित् दोनों हैं ईश्वराक्षित ही। यह ईश्वर इतना करुणावान हैं कि पराया दुःख देखकर आह भी भरता है और कल्याण की राह भी सुझाता है। यही ईश्वर लीला या खिलवाड़ भाव से सृष्टि की रचना करता है और फिर इसे मिटा डालता है। यही रामानुज का विशिष्ट-अद्वैत-वेदान्त है।

इन्होंने, "वास्तविक ज्ञान मन का भ्रम नहीं हो सकता" यह कहते हुए शंकर के माया सिद्धांत की आलोचना की। रामानुज ने ज्ञान, कर्म और भक्ति में समन्वय स्थापित करते हुए भक्ति को श्रेष्ठ बताया। भक्ति में प्रपत्ति भाव को सुगम बताते हुए मुक्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का मार्ग बताया। इसमें कर्म भक्ति को शुद्ध करता है और ज्ञान उसे गहन बनाता है। ये दोनों भक्ति के सहायक साधन हैं। भक्ति के अन्तर्गत सात तत्व आते हैं–विवेक, विमोह, अभ्यास क्रिया, कल्याण अनवसाद और अनुद्धर्ष आदि।

राधाकृष्णन के शब्दों में–शंकराचार्य का अद्वैत यद्यपि बौद्धिक प्रतिभा को प्रकट करने वाला एक रत्न है; तो भी वह पवित्र धार्मिक भावनाओं को जागृत नहीं करता। उनका प्रेम 'परम आत्मा' में आराधना की भावना नहीं जगाता।" रामानुज के सिद्धान्त का उस समय जनता पर तुरन्त सीधा प्रभाव पड़ा था। उन लोगों ने, जो महान शंकर की प्रतिभापूर्ण किन्तु अत्यन्त उलझी हुई तर्क-प्रणाली से आतंकित थे, अब रामानुज की शिक्षाओं में बहुत ही सरल और हृदय को आंदोलित करने वाली चीज पा ली।

रामानुज ने भी सामन्तवाद के माहौल में ही अपने सिद्धान्तों का विकास किया, तो भी जाति-प्रथा के प्रति उनका दृष्टिकोण उतना अमानवीय और रूढ़ नहीं था जितना कि शंकराचार्य का। रामानुज ने भक्ति का द्वार तो सबके लिए खोल दिया परन्तु जाति-बन्धनों को तोड़ने में असफल रहे। भोजन अलग-अलग और भजन साथ-साथ करने की बात की गई।

कालान्तर में इसी परम्परा में रामानंद जी हुए जिन्होंने डंके की चोट पर कह दिया कि जाति-पांति पूछे नहीं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई। इस प्रकार आगे चलकर भक्ति की गंगा बह निकली जिसमें अनेक वर्गों के संतों, भक्तों और कवियों ने गोते लगाए।

रामानुज के बाद दूसरे अद्वैत विरोधी प्रसिद्ध दार्शनिक मध्वाचार्य (1199-1303) हुए। इन्होंने द्वैतवाद की स्थापना की। यह, वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसमें आत्मा और परमात्मा अर्थात् जीव और ईश्वर को दो अलग-अलग पदार्थ मानकर विचार किया जाता है। इसे दो स्वतंत्र और भिन्न सिद्धान्त एक साथ मानने वाली विचार शैली भी कहा गया।

कोशगत अर्थ के अनुसार - दो का भाव, युग्म, अपने और पराए का भाव, भेद, अन्तर, दुविधा, भ्रम और अज्ञान। यह वह दार्शनिक सिद्धान्त जिसमें भूत और चित् शक्ति अथवा शरीर या आत्मा दो भिन्न पदार्थ माने जाते हैं।

मध्वाचार्य ने अपने मत को उपर्युक्त दोनों मतों से भिन्न बताते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य लिखा। अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा कि यह जगत् यथार्थ और जीवात्मा-परमात्मा के बीच भेद है। जीवात्मा, ब्रह्म और जगत् - ये तीनों शाश्वत यथार्थ हैं। तीनों का अपना अलग-अलग अस्तित्व है। शंकर के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और जीवात्मा एक ही है, तो किसी मनुष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है, क्योंकि साधक स्वयं ब्रह्म है। मध्वाचार्य के अनुसार - ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए जीवात्मा का ब्रह्म से भिन्न होना जरूरी है। ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का होना जरूरी है। परमात्मा जहाँ एक स्वतंत्र सत्ता है, वहाँ जीवात्मा उस पर निर्भर है। मध्वाचार्य ने जगत के भ्रम को अस्वीकार करते हुए ज्ञान के तीन स्रोत-प्रत्यक्ष, अनुमान और अगम् बताए। प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्य यथार्थ का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अनुभव के द्वारा उसकी पुष्टि कर सकता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मध्वाचार्य के द्वैतवाद में नौ तथ्य अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

(1) हरिः परः– अर्थात् श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्व है। स्थित, उत्पत्ति, नियमन, ज्ञान, बंध, संहार, आवरण और मोक्ष-इन आठों का कर्त्ता स्वयं भगवान है यानी श्री विष्णु हैं।

(2) सत्यं जगतः, शंकर जगत को मिथ्या कह गए मगर मध्वाचार्य के अनुसार यह संसार भी उतना ही सत्य है जितना कि ईश्वर। न सर्प का सर्पीलापन झूठ है और न रस्सी का रस्सीपन। दोनों की सत्ता, सत्ता है।

(3) तत्व तो भेदः– सब कुछ अपने जैसा है। इसलिए हर कहीं द्वैत है, भेद है। प्रेमी-प्रेमिका चाहे जितना गहर उतर जाएँ, एक दूसरे में डूब जाएं तब भी द्वैत जाता नहीं। भेद रहता है। यह भेद पाँच प्रकार का है–ईश्वर और जीव के बीच, ईश्वर और जड़ के बीच, जीव और जड़ के बीच, जीव और जीव के बीच तथा जड़ और जड़ के बीच।

(4) सब जीव आत्म ज्ञानी है। ईश्वराधीन हैं। उनमें स्वतः कोई क्षमता नहीं।

(5) जीवों में नीच-ऊँच का भाव हैं, इनमें कुछ तमो-गुणी और कुछ नित्य संसारी और थोड़े से मुक्ति योग्य हैं।

(6) द्वैतवाद के अनुसार भक्ति में ही वास्तविक सुख की अनुभूति है।

(7) इस मुक्ति का श्रेष्ठतम उपाय है, निर्दोष, निर्मल भक्ति। प्रभू की भक्ति हम जब स्वार्थवश करते हैं तो इसे हैतुकी भक्ति कहते हैं। गीता में श्रेष्ठ अनन्या भक्ति को कहा गया है।

(8) द्वैतवाद में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द–इन्हीं तीन को महत्व दिया गया है।

(9) मध्वाचार्य का कहना है, वेदों का केन्द्र अन्ततः विष्णु ही है।

मध्वाचार्य की भक्ति को सामाजिक संदर्भ में देखेंगे तो इन्होंने जाति-पांति और सामाजिक असमानताओं का विरोध किया। उनका मत था कि न केवल ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों के लोगों को वरन् शूद्रों को भी वेदों का अध्ययन करने की अनुमति होनी चाहिए और भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल देना चाहिए।

12-13वीं शती में निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत, भेदाभेद सिद्धान्त की स्थापना की। इस मत के अनुसार ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न संसार दोनों है। रामानुज ने संसार को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए भी दोनों की अभिन्नता पर ही अधिक जोर दिया और शंकर ने तो दोनों को भिन्न न मानते हुए अभिन्न ही माना।

निम्बार्क के मतानुसार ब्रह्म से संसार की भिन्नता और अभिन्नता, दोनों समान महत्व की है। इसी लिए इस मत को द्वैत (भिन्नता माननेवाला मत) और अद्वैत (अभिन्नता माननेवाला मत), दोनों एक साथ कहा जाता है। यह कहने में व्याघातक अवश्य लगता है पर वास्तव में यही सत्य है। जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी) से अभिन्न है क्योंकि दोनों की सामग्री एक ही है और साथ ही भिन्न भी हैं, क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार और प्रयोजन आदि पृथक-पृथक हैं। वैसे ही संसार (कार्य) ब्रह्म कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों है। ब्रह्म अद्वैत है, संसार द्वैत (नाना) है। दोनो नित्य सत्य हैं। अद्वैत ब्रह्म (कारण) ही द्वैत संसार (कार्य) का वास्तविक रूप धारण करता है। जो भी कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार करेगा, उसे तात्विक दृष्टि में द्वैताद्वैतवाद को ही मानना पड़ेगा।

निम्बार्क ने राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। 'ब्रह्म सूत्र' पर भाष्य रचकर ब्रह्म की सृष्टि स्वाभाविक माना। सृष्टि का परिणाम स्वभावतः माना। इन्होंने पदार्थ मीमांसा के अन्तर्गत चित्, अचित् और ईश्वर के रूपों को माना। जीव और जगत् का उद्भव ब्रह्म से हुआ है। द्वैताद्वैत के अनुसार जीव आनंद लाभ करने वाला), जगत (आनंद का साधन) और ईश्वर तीनों अलग-अलग हैं। आत्मा और प्रकृति वस्तुगत यथार्थ हैं, किन्तु ये दोनों ईश्वर पर निर्भर हैं। उनमें और ईश्वर में भेद भी है और अभेद भी है। यह भेद और अभेद, दोनों ही यथार्थ हैं। जीव और जगत् का स्पष्ट अलग अस्तित्व है, किन्तु स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे सूर्य की किरण सूर्य से अलग होती हुई भी, उस पर निर्भर होती है। निम्बार्क की यही प्रणाली द्वैताद्वैत कहलायी। जगत् के निर्माण के पीछे ईश्वर की लीला है। सृष्टि के इस नियम

को समझकर ईश्वर की भक्ति पवित्र मन और निःस्वार्थ भाव से करनी चाहिए। आगे चलकर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार काफी हुआ।

शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री वल्लभाचार्य (1459-1530) थे। इस मत में ब्रह्म माया-सम्बन्ध से रहित होने के कारण शुद्ध है। कारण रूप और कार्यरूप, दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है; मायिक नहीं। माया रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। सारा जगत् प्रपंच उसकी लीला विलास है। "सर्व खलु इदं ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही है। इस सिद्धान्त को इस मत में अक्षरशः माना जाता है।

वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की उपासना का समर्थन किया। ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ठ है। वह अनेक रूपों में होते हुए भी एक है। संसार ब्रह्म की क्रीड़ा स्थली है। ब्रह्म के, आधि दैविक - परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म और आधि भौतिक-जगत ये तीन रूप हैं। इनके अनुसार आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं। ब्रह्म अपने त्रिगुणात्मक सार तत्व-सत्, चित् और आनंद को प्रकट करता है; जबकि ईश्वर में स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता। यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म से उसी प्रकार प्रकट हुआ है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ प्रकट होती हैं। वल्लभाचार्य का मत था कि जगत और संसार में एक महत्वपूर्ण भेद है। जगत-ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है। परन्तु यह संसार, जन्म और मृत्यु का यह चक्र, अज्ञान के कारण है। अज्ञान को दूर करने से संसार भी तिरोहित हो जाता है और ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में केवल जगत् का अस्तित्व बच रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी दार्शनिकों ने चित् अचित् और ब्रह्म के संदर्भ में ही अपने विचारों को व्यक्त किया। किसी ने एक को महत्व दिया तो किसी ने दो को और किसी ने तीनों के महत्व को स्वीकार किया। अद्वैतवाद को छोड़कर अन्य सभी मतों ने सगुण भक्ति पर जोर दिया। जबकि अद्वैतवाद ने निर्गुण ब्रह्म के महत्व पर बल दिया। जाति-पांति का बन्धन भक्ति के क्षेत्र में शंकराचार्य के मत में अधिक था। कालान्तर में इसमें काफी सुधार हुआ। लौकिकता का समावेश हुआ। अलौकिक ईश्वर को लौकिक भूमि पर उतारा गया।

इन आचार्यों की परवर्ती परम्परा में भक्तों, संतों और कवियों ने भक्ति को उच्चता के शिखर पर स्तापित किया। इनके विचारों ने तत्कालीन भारतीय जनमानस की भावनाओं को झकझोर कर रख दिया, जिसका प्रभाव आज भी देश के विभिन्न भागों में विविध रूपों में विद्यमान है।